

मोहम्मद हादी राजा आदि

बनाम

बिहार राज्य और एक अन्य

28 अप्रैल, 1998

(जी.एन. रे और जी.बी. पट्टनायक, न्यायमूर्तिगण)

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973।

धारा 197 और 2(वाई) - "लोक सेवक" - न्यायाधीश, दंडाधिकारी और लोक सेवक को उनके आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कथित रूप से किए गए किसी भी अपराध के लिए अभियोजित या उनके पद से हटाया नहीं जा सकता। क्या लोक उपक्रमों के अधिकारियों या सरकारी कंपनियों के अभियोग के लिए स्वीकृति आवश्यक है, भले ही ऐसी कंपनियां अनुच्छेद 12 के तहत राज्य की परिभाषा के अंतर्गत आती हों? - अभिनिर्धारित, नहीं। राज्य के ये उपकरण या एजेंसियां, भले ही राज्य के कुछ कार्यों का निष्पादन करती हों, उनकी अपनी अलग पहचान होती है और उन्हें सरकार द्वारा सीधे संचालित विभागों के बराबर नहीं माना जा सकता। इसलिए, उनके द्वारा की गई कार्रवाई, चाहे वह राज्य के हित में कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, सरकार द्वारा या सरकार की ओर से की गई कार्रवाई मानी जा सकती है और इस प्रकार धारा 197 के अर्थ के अंतर्गत आती है। - भारत का संविधान अनुच्छेद

12।

धारा 197- इनमें से कौन से कृत्य लोक सेवक द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में किए गए प्रतीत हो सकते हैं- अभिनिर्धारित, लोक सेवक द्वारा किए गए कथित कृत्य, जो अपराध का गठन करते हैं, का लोक सेवक द्वारा किए गए आधिकारिक कर्तव्यों के साथ उचित और तर्कसंगत संबंध होना चाहिए।

शब्द एवं वाक्यांश- "लोक सेवक" - इसका अर्थ - दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 2(वाई) के संदर्भ में।

कानूनों की व्याख्या - उदार संरचना - अनुमेय सीमा - ऐसी संरचना न्यायालय द्वारा विधान बनाने के समान नहीं होनी चाहिए।

इस अपील में जो प्रश्न उठा वह यह था कि क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत मंजूरी के प्रावधान सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों या सरकारी कंपनियों के अधिकारियों पर मुकदमा चलाने के लिए लागू होंगे, जब वित्त और प्रशासन पर गहन और व्यापक नियंत्रण के कारण ऐसे उपक्रमों और सरकारी कंपनियों को संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थ में राज्य माना जाता है।

अपीलकर्ताओं ने यह तर्क दिया कि यदि सार्वजनिक उपक्रम या सरकारी कंपनियां, जो सरकार के ऐसे सार्वजनिक उपक्रमों या सरकारी कंपनियों पर गहन और व्यापक नियंत्रण के विभिन्न मानदंडों को पूरा करती हैं, तो ऐसे निगमों के अधिकारियों को सभी उद्देश्यों और प्रयोजनों के लिए लोक सेवक माना जाना चाहिए और धारा 197 दं.प्र.सं. की प्रयोज्यता के लिए, जिसका उद्देश्य न्यायाधीशों, दंडाधिकारियों और लोक सेवकों के खिलाफ परेशान करने वाली कार्यवाहियों से बचाव करना और उच्चतर प्राधिकारी की राय प्राप्त करना था, और चूंकि ऐसे सार्वजनिक उपक्रम और सरकारी कंपनियां सरकार का तीसरा अंग हैं, इसलिए धारा 197 दं.प्र.सं. के तहत मंजूरी के उद्देश्य से, ऐसे सार्वजनिक उपक्रमों के अधिकारियों को सरकारी कर्मचारियों के बराबर रखा जाना चाहिए क्योंकि ऐसे अधिकारी वास्तव में राज्य सरकार के कर्तव्यों और कार्यों का निर्वहन करते हैं।

दूसरी ओर, उत्तरदाताओं ने तर्क दिया कि यद्यपि कुछ सार्वजनिक उपक्रमों और सरकारी कंपनियों को सरकार के गहन और व्यापक नियंत्रण के कारण राज्य के उपकरण या एजेंसियां माना जा सकता है, लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि ऐसे कर्मचारी संघ या राज्य के मामलों से संबंधित कर्मचारी थे; और यह कि सरकार द्वारा सीधे संचालित विभाग

को हमेशा एक अलग दर्जा दिया गया है और सरकारी उपक्रमों और सरकारी कंपनी के कर्मचारियों को, भले ही वे राज्य के उपकरण या एजेंसियां हों, कभी भी सरकारी कर्मचारियों के बराबर नहीं माना गया है; और यह कि धारा 197 दं.प्र.सं. के तहत परिकल्पित मंजूरी केवल किसी न्यायाधीश या दंडाधिकारी या सरकार द्वारा सीधे नियोजित लोक सेवक के संबंध में ही सीमित होनी चाहिए, न कि सरकार के किसी उपकरण या एजेंसी के संबंध में।

अपील खारिज करते हुए, इस न्यायालय ने

अभिनिर्धारित किया: 1.1. धारा 197 दं.प्र.सं. के तहत मंजूरी द्वारा दी गई सुरक्षा सरकारी कंपनियों या सार्वजनिक उपक्रमों के अधिकारियों पर लागू नहीं होती है, भले ही ऐसे सार्वजनिक उपक्रम, संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थ में "राज्य" हों, क्योंकि उन पर सरकार का गहरा और व्यापक नियंत्रण होता है। (37-ए)

1.2. धारा 197 दं.प्र.सं. के तहत संरक्षण का औचित्य लोक सेवक द्वारा किए गए आधिकारिक कार्यों को सुनिश्चित करने की सार्वजनिक नीति में निहित है, जिससे ऐसे लोक सेवक के खिलाफ अनावश्यक और परेशान करने वाले अभियोजन न हो और यह वांछनीय है कि लोक सेवक पर मुकदमा चलाने की उपयुक्तता का निर्णय सरकार पर छोड़ दिया जाए।

(33-एफ)

निरीक्षक एवं लेखापरीक्षा निदेशक बनाम सी.एल. सुब्रमण्यम, [1994] अनुपूरक 3 एससीसी 625 और *शंभू नाथ मिश्रा बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*, [1997] 5 एससीसी 326, संदर्भित।

2. दंड प्रक्रिया संहिता में "लोक सेवक" को परिभाषित नहीं किया गया है, लेकिन इसकी धारा 2(वाई) के अनुसार, धारा 21 भारतीय दंड संहिता में परिभाषित "लोक सेवक" का वही अर्थ होगा जो दंड प्रक्रिया संहिता में है। लेकिन धारा 197 दंड प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत किसी लोक सेवक को संरक्षण तब तक प्राप्त नहीं होगा जब तक कि उस धारा में निर्दिष्ट अन्य शर्तें पूरी न हों। [34-बी]

3. यद्यपि निगमित आवरण वाली संस्था या एजेंसी, सभी प्रतीकों और उद्देश्यों के लिए सरकार का तीसरा अंग मानी जा सकती है और राज्य द्वारा निर्धारित कर्तव्यों और कार्यों का निर्वहन करती है, फिर भी ऐसी संस्था या एजेंसी एक न्यायिक व्यक्ति है जिसकी एक अलग कानूनी इकाई है। इसलिए, ऐसी संस्था को राज्य से अलग एक स्वतंत्र दर्जा प्राप्त होना चाहिए और इसे सभी उद्देश्यों के लिए सरकारी विभाग नहीं माना जा सकता है। इसलिए, भले ही ऐसी संस्था या एजेंसी का कोई अधिकारी कोई संपत्ति लेता है, प्राप्त करता है, रखता है या बढ़ाता है या कोई अनुबंध निष्पादित करता है, ऐसे कार्य, भले ही अंतिम विश्लेषण में राज्य के हित में किए गए माने जाएं, ऐसे कार्यों को नियम के अनुसार, सरकार द्वारा अपने कर्मचारियों या सरकार द्वारा सशक्त किसी प्राधिकरण द्वारा की गई कार्रवाई नहीं माना जा सकता है। [34-जी-एच]

अजय हासिया बनाम खालिद मुजीब सेहरावंडी, [1981] 1 एससीसी 712, पर अवलंबन किया गया।

4.1. मौलिक अधिकारों को लागू करने के उद्देश्य से, सार्वजनिक उपक्रम, जिसे गहन और व्यापक नियंत्रण के कारण अनुच्छेद 12 के अर्थ में राज्य माना जा सकता है, को सरकारी विभाग के समान माना गया है, लेकिन अपने सभी पहलुओं में, सार्वजनिक उपक्रम को सरकार द्वारा सीधे संचालित विभागों के बराबर नहीं माना गया है। जब भी "लोक सेवक" की परिभाषा में अन्य कार्यों को शामिल करने की आवश्यकता महसूस हुई, उन्हें कई विशेष और स्थानीय अधिनियमों के तहत "लोक सेवक" घोषित किया गया है। यदि विधायिका का इरादा किसी संस्था या एजेंसी के अधिकारियों को धारा 197 दं.प्र.सं. के सुरक्षात्मक दायरे में लाने का होता, तो वह ऐसा स्पष्ट रूप से करती। [35-एफ; 36-एफ]

प्रगा टूल्स कॉर्पोरेशन बनाम सी. वी. इनामुल और अन्य, [1969] 1 एससीसी 585; *बिहार राज्य बनाम भारत संघ*, [1970] 1 एससीसी 67; *के. जयमोहन बनाम केरल राज्य*

और अन्य, [1969] 5 एससीसी 170 और एस.एस. धनु बनाम नगर निगम, दिल्ली, [1981] 3 एससीसी 438, पर अवलंबन किया गया।

रंजन घोष बनाम सिंदरी फर्टिलाइजर एंड केमिकल्स लिमिटेड, एआईआर (1957) पट.

10, अनुमोदित।

सी.वी. रमन बनाम बैंक ऑफ इंडिया प्रबंधन, [1988] 3 एससीसी 105 और डॉ. एस.एल. अग्रवाल बनाम महाप्रबंधक, हिंदुस्तान स्टील लिमिटेड, [1970] 1 एससीसी, का संदर्भ दिया गया।

4.2. इसलिए, धारा 197 के प्रावधानों की उदारतापूर्वक व्याख्या करके ऐसे व्यक्तियों को धारा 197 के दायरे में लाना उचित और न्यायसंगत नहीं होगा। इस प्रकार की उदार व्याख्या किसी न्यायालय द्वारा किसी विधि की व्याख्या की अनुमत सीमा तक ही सीमित नहीं रहेगी, बल्कि न्यायालय द्वारा विधि निर्माण के समान होगी। [36-जी]

5. लोक सेवक द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य करते समय या कार्य करने का आशय रखते समय किन कृत्यों को कथित रूप से किया जा सकता है, यह एक जटिल प्रश्न है। मोटे तौर पर, लोक सेवक द्वारा कथित रूप से किए गए अपराध का उन आधिकारिक कर्तव्यों के साथ एक उचित और तर्कसंगत संबंध होना चाहिए, जिनका निर्वहन लोक सेवक को करना आवश्यक है। हालांकि, इन मामलों में उठाए गए प्रश्न का निर्णय करने के लिए इस पहलू पर विस्तार से चर्चा करना आवश्यक नहीं है। [27-ई-एफ]

आपराधिक अपीलीय क्षेत्राधिकार : 1987 की दीवानी अपील संख्या 448 इत्यादि इत्यादि।

आपराधिक पुनरीक्षण संख्या 376/1987 में पटना उच्च न्यायालय के दिनांक 22.5.87 के निर्णय एवं आदेश से।

अशोक देसाई, महान्यायवादी, अल्ताफ अहमद, अतिरिक्त महान्यायाभिकर्ता जे.डी. जैन, एस.बी. सान्याल, एल.आर. सिंह, पी.एन. गोबर्धन, सुश्री पिंगी आनंद, अनिप सचचे,

अनुपमलाल दास, एच. मुंशी, अजीत कुमार सिन्हा, प्रमोद स्वरूप, सुश्री परीना स्वरूप, अरविंद कुमार शर्मा, हसीह चंदर, श्रीमती अनुभा जैन, राजीव नंदा, एस. वसीम, ए. कादरी, पी. परमेश्वरन, पी. शिशोदा, रोमी चाको, एस.ए. मट्टू, अनिल कुमार झा, सी.वी.एस. राव और बी.बी. सिंह उपस्थित पक्षों की ओर से उपस्थित हुए।

न्यायालय का निर्णय

न्यायमूर्ति जी.एन. रे द्वारा सुनाया गया। इन सभी मामलों में उठने वाला सामान्य कानूनी प्रश्न यह है कि क्या दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 197 के तहत मंजूरी के प्रावधान सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों या सरकारी कंपनियों के अधिकारियों पर मुकदमा चलाने के लिए लागू होते हैं, जब ऐसे उपक्रमों और सरकारी कंपनियों के वित्त और प्रशासन पर गहन और व्यापक नियंत्रण के कारण, उन्हें भारत के संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थ में राज्य माना जाता है?

इस स्तर पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के प्रावधानों का उल्लेख करना उचित होगा:-

धारा 197: न्यायाधीशों और लोक सेवकों पर अभियोग-(1) जब कोई व्यक्ति जो न्यायाधीश या दंडाधिकारी है या था या लोक सेवक है जिसे सरकार की स्वीकृति के बिना उसके पद से हटाया नहीं जा सकता, उस पर किसी ऐसे अपराध का आरोप लगाया जाता है जो उसके द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्य के निर्वहन में कार्य करते समय या कार्य करने का आशय रखते हुए किया गया हो, तो कोई भी न्यायालय ऐसे अपराध का संज्ञान पूर्व स्वीकृति के बिना नहीं लेगी।

(क) ऐसे व्यक्ति के मामले में जो संघ के मामलों के संबंध में केंद्रीय सरकार में कार्यरत है या जैसा भी मामला हो, कथित अपराध के घटित होने के समय कार्यरत था।

(ख) यदि कोई व्यक्ति किसी राज्य के मामलों से संबंधित किसी कार्य में कार्यरत है या जैसा भी मामला हो, कथित अपराध के घटित होने के समय राज्य में राज्य सरकार के किसी कार्य में कार्यरत था:

बशर्ते कि यदि कथित अपराध किसी व्यक्ति द्वारा किया गया हो, जिसका उल्लेख खंड (ख) में किया गया है, उस अवधि के दौरान जब किसी राज्य में संविधान के अनुच्छेद 350 के खंड (1) के तहत जारी की गई कोई उद्घोषणा लागू थी, तो खंड (ख) इस प्रकार लागू होगा मानो वहां प्रयुक्त अभिव्यक्ति "राज्य सरकार" के स्थान पर अभिव्यक्ति "केंद्रीय सरकार" प्रतिस्थापित की गई हो।

(2) कोई भी न्यायालय संघ के सशस्त्र बलों के किसी सदस्य द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्य के निर्वहन में कार्य करते समय या कार्य करने का आशय रखते हुए कथित रूप से किए गए किसी अपराध का संज्ञान केंद्रीय सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना नहीं लेगी।

(3).....

(4).....

उपर्युक्त प्रावधानों के अधीन, किसी ऐसे अभियुक्त के अभियोग के संबंध में, जो न्यायाधीश या दंडाधिकारी या लोक सेवक था या है और जिसे सरकार की स्वीकृति के बिना उसके पद से हटाया नहीं जा सकता, और यदि ऐसे व्यक्ति पर किसी ऐसे अपराध का आरोप है जो उसने अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन के दौरान किया हो, तो कोई भी न्यायालय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 की उपधारा (1) के खंड (क) और (ख) में उल्लिखित पूर्व स्वीकृति के बिना ऐसे अपराध का संज्ञान नहीं लेगा। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अधीन स्वीकृति की आवश्यकता के लिए, अभियुक्त न केवल लोक सेवक होगा,

बल्कि वह ऐसा लोक सेवक होगा जिसे सरकार की स्वीकृति के बिना उसके पद से हटाया नहीं जा सकता। इसके अलावा, आरोपी न केवल उपर्युक्त विवरण का लोक सेवक होगा, बल्कि उस अधिकारी द्वारा कथित रूप से किया गया अपराध उस समय किया गया होगा जब वह लोक सेवक अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य कर रहा था या कार्य करने का दावा कर रहा था।

अतः, यह विश्लेषण करना आवश्यक है कि क्या सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों या सरकारी कंपनियों के अधिकारी, जो संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थ में राज्य हैं, जिन्हें नियुक्ति की शर्तों या सरकारी कंपनियों के संघ के नियमों के तहत, सरकार की मंजूरी के बिना उनके संबंधित पद से हटाया जा सकता है, जब उनके खिलाफ आरोपित अपराध आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य करते समय या कार्य करने का आशय रखते हुए किया गया हो।

किसी लोक सेवक द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन के दौरान या निर्वहन करने का दावा करते समय किन कृत्यों को कथित रूप से किया जा सकता है, यह एक जटिल प्रश्न है और इस न्यायालय सहित विभिन्न न्यायालयों को अक्सर परेशान करता रहा है। मोटे तौर पर, इस न्यायालय के विभिन्न निर्णयों में यह संकेत दिया गया है कि लोक सेवक द्वारा कथित रूप से किए गए अपराध का उन आधिकारिक कर्तव्यों से उचित और तर्कसंगत संबंध होना चाहिए जिनका निर्वहन लोक सेवक को करना आवश्यक है। हालांकि, इन मामलों में उठाए गए प्रश्न का निर्णय करने के लिए इस पहलू पर विस्तार से चर्चा करना आवश्यक नहीं है। निर्णय के लिए प्रश्न यह है कि यदि किसी विशेष मामले में, संविधान के अनुच्छेद 12 के अंतर्गत राज्य के अंतर्गत आने वाले सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम या सरकारी कंपनी का संबंधित अधिकारी सरकार द्वारा या सरकार की स्वीकृति से पद से हटाया जा सकता है, और ऐसे अधिकारी पर अपने ऐसे कार्य से अपराध करने का आरोप है जिसे अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य करते हुए या कार्य करने का आशय रखते हुए की

गई कार्रवाई मानी जा सकती है, तो क्या ऐसे अधिकारी पर मुकदमा चलाने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत स्वीकृति आवश्यक है या नहीं।

यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि प्रश्न के महत्व को ध्यान में रखते हुए, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों या सरकारी कंपनियों के अधिकारियों के मामले में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 (1) के तहत मंजूरी की आवश्यकता के संबंध में माननीय महान्यायवादी को उनकी राय के लिए नोटिस दिया गया था।

श्री अल्ताफ अहमद, विद्वान अतिरिक्त महान्यायाभिकर्ता, विद्वान महान्यायवादी की ओर से उपस्थित हुए और उन्होंने प्रस्तुत किया कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों और सरकारी कंपनियों के अधिकारी, जो संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थ में राज्य हैं, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत लोक सेवक को प्राप्त समान संरक्षण के पात्र होंगे। यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों और सरकारी कंपनियों के अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से राज्य सरकार या केंद्र सरकार के कर्मचारी नहीं हैं, लेकिन सरकार के संस्थानों के कर्मचारी होने के नाते, उन्हें दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत मंजूरी की आवश्यकता के माध्यम से संरक्षण के उद्देश्य से सरकारी सेवक के समान माना जाना चाहिए।

अन्य मामलों में अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ताओं ने भी इसी आशय का तर्क प्रस्तुत किया है। अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ताओं के तर्कों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:

इन दिनों सरकार कुछ ऐसे कार्यों का निर्वहन कर रही है, जो राज्य द्वारा किए जाने चाहिए थे, प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि राज्य के साधनों या एजेंसियों के माध्यम से। प्रारंभिक दिनों में, जब सरकार सीमित कार्यों में संलग्न थी, तब वह लोक सेवा में कार्यरत अपने अधिकारियों के माध्यम से सीधे प्रभावी ढंग से कार्य कर सकती थी और सरकार के अधीन ऐसे कर्मचारी पारंपरिक सरकारी कार्यों के निर्वहन के लिए पर्याप्त पाए गए थे। लेकिन कल्याणकारी राज्य के आगमन के साथ, सरकारी हस्तक्षेप कई गुना बढ़ गए हैं और यह

महसूस किया जाने लगा है कि लोक सेवा का ढांचा नए कार्यों का सामना करने में असमर्थ है, जो अक्सर विशिष्ट और तकनीकी प्रकृति के होते हैं। इस संबंध में, इस न्यायालय के *अजय हासिया बनाम खालिद मुजीब सहरावादी*, एआईआर (1989) 1 एससीसी 712 के निर्णयों का संदर्भ दिया गया है। उक्त निर्णय में यह माना गया है कि इन नई समस्याओं से निपटने में लोक सेवा की अपर्याप्तता का एहसास हुआ और इन नई समस्याओं से निपटने के लिए एक नए साधन या प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता महसूस हुई। इन्हीं परिस्थितियों में और इस प्रशासनिक आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से निगम सरकार के तीसरे अंग के रूप में अस्तित्व में आया और वर्षों से सरकार द्वारा सार्वजनिक उद्यमों की स्थापना और संचालन तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के निष्पादन के लिए इसका उपयोग बढ़ता ही जा रहा है। उक्त निर्णय में यह भी माना गया है कि सरकार द्वारा वाणिज्यिक उपक्रमों और आर्थिक परियोजनाओं को अधिकाधिक संभालने के साथ, निगम सरकार के हाथों में अपनी गतिविधियों को संचालित करने के लिए एक प्रभावी कानूनी साधन बन गया है, क्योंकि यह पाया गया है कि निगम की यह कानूनी सुविधा काफी लचीलापन और अनुकूलनशीलता प्रदान करती है तथा पेशेवर कौशल और व्यावसायिक सिद्धांतों पर आधारित उचित और कुशल प्रबंधन को सुगम बनाती है और यह विभागीय कठोरता, धीमी प्रक्रिया और अधिकारियों के पदानुक्रम से पूरी तरह मुक्त है। अजय हासिया के मामले में यह भी कहा गया है कि उक्त संस्थाओं के संबंध में, वास्तविक स्वामी राज्य है, वास्तविक संचालक राज्य है और प्रभावी नियंत्रक राज्य है, और समुदाय और संसद के प्रति इसकी कार्रवाई के लिए जवाबदेही राज्य की है। इस न्यायालय ने आगे संकेत दिया है कि यह निस्संदेह सत्य है कि निगम एक अलग कानूनी इकाई है जिसकी अपनी निगम संरचना है और यह व्यावसायिक सिद्धांतों पर कुछ हद तक स्वायत्तता के साथ अपने कार्यों का संचालन करती है, जो प्रभावी व्यवसाय प्रबंधन के दृष्टिकोण से आवश्यक और उपयोगी है, लेकिन औपचारिक स्वामित्व के पीछे, जो निगम ढांचे में निहित है, वास्तविकता में सरकार की व्यापक उपस्थिति है। इसलिए, वास्तव

में, सरकार निगम की संस्था या एजेंसी के माध्यम से कार्य करती है। अतः, जहाँ निगम सरकार की संस्था या एजेंसी है, उसे संवैधानिक कानून के क्षेत्र में उसी सीमा के अधीन होना चाहिए जो स्वयं सरकार पर लागू होती है, यद्यपि कानून की दृष्टि में यह एक अलग और स्वतंत्र कानूनी इकाई होगी।

इस तर्क के समर्थन में कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत मंजूरी सार्वजनिक उपक्रमों और सरकारी कंपनियों के अधिकारियों के मामले में उचित है, जिनका सरकार पर गहरा और व्यापक नियंत्रण है, यह प्रस्तुत किया गया है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत मंजूरी का उद्देश्य न्यायाधीशों, दंडाधिकारियों और लोक सेवकों के खिलाफ परेशान करने वाली कार्यवाही से बचाव करना और उच्च अधिकारियों की राय प्राप्त करना है कि क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 (1) की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले लोक सेवकों के खिलाफ अभियोजन चलाना वांछनीय है। इस संदर्भ में, इस न्यायालय के *निरीक्षण एवं लेखापरीक्षा निदेशक और अन्य बनाम सी.एल. सुब्रमण्यम*, [1994] अनुपूरक 3 धारा 615 और *शंभू नाथ मिश्रा बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य*, [1997] 5 एससीसी 326 के निर्णयों का उल्लेख किया गया है। उक्त निर्णयों में, इस न्यायालय ने संकेत दिया है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197(1) में परिकल्पित उपयुक्त प्राधिकारी द्वारा स्वीकृति का उद्देश्य लोक सेवक को अनावश्यक उत्पीड़न से बचाना है। स्वीकृति के माध्यम से ऐसी सुरक्षा ईमानदार अधिकारी को लोक कर्तव्यों का ईमानदारी से और अपनी सर्वोत्तम क्षमता के अनुसार पालन करने का आश्वासन और संरक्षण प्रदान करती है क्योंकि अभियोजन का खतरा ईमानदार अधिकारी का मनोबल गिरा देता है।

यह तर्क दिया गया है कि यदि सार्वजनिक उपक्रम और सरकारी कंपनियाँ, जैसा कि न्यायालय के कुछ निर्णयों में दर्शाया गया है, सरकार द्वारा ऐसे सार्वजनिक उपक्रमों या सरकारी कंपनियों पर गहन और व्यापक नियंत्रण के विभिन्न मानदंडों को पूरा करती हैं, तो ऐसे निगम के अधिकारी को सभी उद्देश्यों और प्रयोजनों के लिए और दंड प्रक्रिया संहिता की

धारा 197 की प्रयोज्यता के लिए लोक सेवक माना जाना चाहिए। यदि ऐसे सार्वजनिक उपक्रमों आदि के लोक सेवक को सरकार की स्वीकृति के बिना उसके पद से हटाया नहीं जा सकता है, और यदि ऐसे अधिकारी पर अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य करते समय या कार्य करने का आशय रखते हुए उसके द्वारा किए गए किसी अपराध का आरोप लगाया जाता है, तो कोई भी न्यायालय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत परिकल्पित स्वीकृति के अभाव में ऐसे अपराध का संज्ञान नहीं लेगा, भले ही प्रथम दृष्टया ऐसा अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से सरकारी सेवक न हो, क्योंकि निगम संरचना के पर्दे को हटाकर, ऐसे अधिकारी को वास्तव में सरकार के अधीन पद धारण करने वाले लोक सेवक के रूप में माना जाना चाहिए।

विद्वान अधिवक्ताओं ने यह भी तर्क दिया है कि चूंकि ऐसे सार्वजनिक उपक्रम और सरकारी कंपनियां सरकार का तीसरा अंग हैं, इसलिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत मंजूरी के उद्देश्य से, ऐसे सार्वजनिक उपक्रमों के अधिकारियों को सरकारी कर्मचारियों के बराबर माना जाना चाहिए क्योंकि ऐसे अधिकारी वास्तव में राज्य सरकार के कर्तव्यों और कार्यों का निर्वहन करते हैं।

इस संदर्भ में, *सी.वी. रमन बनाम मैनेजमेंट ऑफ बैंक ऑफ इंडिया और एक अन्य*, [1983] 3 एससीसी 105 के मामले में इस न्यायालय के निर्णय पर अवलंबन किया गया है। उक्त मामले में, स्टेट बैंक और राष्ट्रीयकृत बैंकों के कर्मचारियों ने तर्क दिया कि ऐसे बैंकों को केंद्र सरकार के स्वामित्व वाला नहीं माना जा सकता है और दुकानों और प्रतिष्ठान अधिनियम में प्रयुक्त अभिव्यक्ति 'केंद्र सरकार के अधीन' का अर्थ केवल केंद्र सरकार के पूर्ण नियंत्रण में होना है, यानी केंद्र सरकार के स्वामित्व में होना। हालांकि, इस न्यायालय ने इस तर्क को यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया कि संविधान का अनुच्छेद 12 संविधान के भाग III में आता है, जो मौलिक अधिकारों से संबंधित है। इसलिए, संविधान के अनुच्छेद 12 या मौलिक अधिकारों से संबंधित मामलों में दिए गए निर्णयों को इस तर्क का आधार नहीं

बनाया जा सकता कि भारतीय स्टेट बैंक और राष्ट्रीयकृत बैंक, दुकान एवं प्रतिष्ठान अधिनियम के प्रावधानों की प्रयोज्यता के उद्देश्य से केंद्र सरकार के अधीन प्रतिष्ठान हैं। लेकिन *सी.वी. रमन* के मामले में यह देखा गया है कि यद्यपि सार्वजनिक उपक्रमों के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 12 से संबंधित निर्णय मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के संबंध में दिए गए थे, फिर भी यह निर्विवाद है कि उन मामलों में निगमित संरचना वाले और कुछ क्षेत्रों में स्वायत्तता का प्रयोग करने वाले तथा निगमित आवरण के तहत सरकार के कार्यों का निर्वहन करने वाले प्राधिकरणों के संबंध में निर्धारित प्रमुख सिद्धांत, इस प्रश्न को निर्धारित करने में निश्चित रूप से उपयोगी होंगे कि क्या भारतीय स्टेट बैंक और राष्ट्रीयकृत बैंकों को दुकान एवं प्रतिष्ठान अधिनियम की प्रवर्तनीयता के लिए केंद्र सरकार के अधीन प्रतिष्ठान माना जाना चाहिए।

उक्त निर्णय पर अवलंबन करते हुए यह तर्क दिया गया है कि जब सरकार का कोई साधन और एजेंसी, निगमित आवरण के माध्यम से, सरकार का तीसरा अंग है और ऐसा साधन उन कार्यों का निर्वहन कर रहा है जिन्हें सरकार ने निगमित संरचना के तंत्र या युक्ति के माध्यम से करने का इरादा किया था, तो ऐसे निगमित संरचना के अधिकारियों को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत मंजूरी की आवश्यकता के उद्देश्य से अलग नहीं माना जाना चाहिए। सरकार द्वारा सीधे संचालित विभागों में कार्यरत सरकारी कर्मचारियों और सार्वजनिक उपक्रमों के अधिकारियों के बीच ऐसा भेदभाव, जो निगमित संरचना की युक्ति या आवरण के माध्यम से सरकार द्वारा किए जाने वाले कार्यों का निर्वहन करते हैं, राज्य द्वारा किए जाने वाले सार्वजनिक कर्तव्यों का निर्वहन करने वाले अधिकारियों की सुरक्षा के मूल उद्देश्य को विफल कर देगा। इसलिए, कॉर्पोरेट क्षेत्र के ऐसे अधिकारियों को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत मंजूरी के माध्यम से संरक्षण प्राप्त होना चाहिए, और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के प्रावधानों की व्याख्या सीमित तरीके से नहीं की जानी चाहिए, जिससे इसका प्रयोग केवल सरकार द्वारा सीधे संचालित विभागों में कार्यरत सरकारी कर्मचारियों तक ही सीमित न रहे। इसके विपरीत, धारा 197 की व्याख्या व्यापक रूप से की

जानी चाहिए ताकि राज्य के उन संस्थानों के अधिकारियों को, जिनका राज्य पर गहरा और व्यापक नियंत्रण है और जो कॉर्पोरेट संरचना के माध्यम से सरकार द्वारा किए जाने वाले कर्तव्यों और कार्यों का निर्वहन करते हैं, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत वांछित संरक्षण प्राप्त हो सके।

हालांकि, बिहार राज्य की ओर से उपस्थित हुए विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री सान्याल और अभियोजन पक्ष की ओर से पेश हुए विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री जैन ने इन दलीलों का कड़ा विरोध किया है। उनका तर्क है कि भले ही कुछ सार्वजनिक उपक्रमों और सरकारी कंपनियों को सरकार के व्यापक नियंत्रण के कारण राज्य के उपकरण या एजेंसियां माना जा सकता है, लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि वे संघ या राज्य के मामलों से संबंधित कार्यों में लगे हुए हैं। सरकार द्वारा सीधे संचालित विभाग को हमेशा अलग दर्जा दिया गया है और सार्वजनिक उपक्रमों और सरकारी कंपनियों के कर्मचारियों को, भले ही वे राज्य के उपकरण या एजेंसियां हों, कभी भी सरकारी कर्मचारियों के बराबर नहीं माना गया है। इस संदर्भ में, इस न्यायालय के डॉ. एस.एल. अग्रवाल बनाम महाप्रबंधक, हिंदुस्तान स्टील लिमिटेड, [1970] 1 एससीसी 177 के निर्णय का संदर्भ दिया गया है। इस न्यायालय की संविधान पीठ को उक्त निर्णय में विचार करना था कि क्या डॉ. अग्रवाल, जिन्हें हिंदुस्तान स्टील लिमिटेड में सहायक सर्जन के रूप में नियुक्त किया गया था, संघ के अधीन एक लोक पद के धारक थे और क्या संविधान का अनुच्छेद 311 ऐसे कर्मचारी के संबंध में लागू होता है। उक्त निर्णय में यह माना गया है कि हिंदुस्तान स्टील लिमिटेड सरकार का कोई विभाग नहीं है और न ही इसके कर्मचारी राज्य के अधीन पदों पर हैं। उक्त संस्था का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और निगम संबंधी कानून के अनुसार यह अपने सदस्यों से भी अलग है। इसलिए, हिंदुस्तान स्टील लिमिटेड के कर्मचारी संविधान के अनुच्छेद 311 में वर्णित संघ के अधीन लोक पद के धारक की श्रेणी में नहीं आते हैं।

इस मामले में *प्रागा टूल्स कॉर्पोरेशन बनाम सी.वी. इमानुएल और अन्य*, [1969] 1 एससीसी 585 में इस न्यायालय के निर्णय पर भी अवलंबन किया गया है। इसमें यह माना गया है कि यद्यपि प्रागा टूल्स कॉर्पोरेशन एक ऐसी संस्था थी जिसकी 88% पूंजी केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा लगाई गई थी, फिर भी इसे सरकारी विभाग के समकक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि कंपनी अधिनियम के तहत पंजीकृत होने के कारण इसका एक अलग कानूनी अस्तित्व था और यह केंद्र सरकार द्वारा संचालित या उसके अधिकार के अधीन सरकारी संस्था नहीं हो सकती थी। *प्रागा टूल्स के मामले* में, इस न्यायालय ने *सुबोध रंजन घोष बनाम सिंधरी फर्टिलाइजर्स एंड केमिकल्स लिमिटेड*, एआईआर (1957) पटना 10 में पटना उच्च न्यायालय के निर्णय को स्वीकार किया है। पटना उच्च न्यायालय ने यह माना था कि सिंधरी फर्टिलाइजर्स एंड केमिकल्स लिमिटेड का पूर्ण स्वामित्व भारत के राष्ट्रपति के पास था, जो निर्देश भी जारी कर सकते थे और निदेशकों की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जानी थी। फिर भी, कानून की दृष्टि में, कंपनी एक अलग कानूनी इकाई थी और उसका एक अलग कानूनी अस्तित्व था।

इस संबंध में इस न्यायालय के *बिहार राज्य बनाम भारत संघ*, [1970] 1 एससीसी 67 के फैसले पर भी अवलंबन किया गया है। इसमें यह माना गया है कि हिंदुस्तान स्टील लिमिटेड संविधान के अनुच्छेद 131 के प्रयोजन के लिए राज्य नहीं था।

इस मामले में इस न्यायालय के एक निर्णय पर भी अवलंबन किया गया है। *के. जयमोहन बनाम केरल राज्य और एक अन्य* [1997] 5 एससीसी 170 में यह माना गया है कि भले ही अपीलकर्ता कंपनी हिंदुस्तान स्टील वर्क्स कंपनी लिमिटेड पर सरकार का गहरा और व्यापक नियंत्रण हो और इस कारण उक्त कंपनी केंद्र सरकार की एक संस्था या एजेंसी हो, फिर भी उक्त कंपनी को हर हाल में सरकार का विभाग या प्रतिष्ठान नहीं माना जा सकता। इस न्यायालय के एक अन्य निर्णय, *एस.एस. धनु बनाम नगर निगम, दिल्ली*, [1981] 3 एससीसी 438, को भी इस न्यायालय के विचार के लिए रखा गया था। उक्त

मामले में, एक भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी को सरकारी स्वामित्व वाली पंजीकृत सहकारी समिति में प्रतिनियुक्ति पर भेजा गया और उन्हें सुपर बाजार का महाप्रबंधक नियुक्त किया गया। प्रश्न यह उठा कि क्या ऐसे अधिकारी के विरुद्ध आरोपित अपराध के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अंतर्गत संरक्षण प्राप्त है। उक्त मामले में यह निर्णय दिया गया है कि जब उक्त अधिकारी प्रतिनियुक्ति पर थे और सुपर बाजार के महाप्रबंधक के रूप में कार्यभार संभाल रहे थे, तब उन्हें उन कार्यों का निर्वहन करने वाला नहीं माना जा सकता जिनके लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अंतर्गत स्वीकृति आवश्यक है।

यह तर्क दिया गया है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अंतर्गत परिकल्पित मंजूरी केवल न्यायाधीश, दंडाधिकारी या सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नियुक्त लोक सेवक के संबंध में ही सीमित होनी चाहिए, न कि सरकार के किसी अन्य संस्थान या एजेंसी द्वारा नियुक्त लोक सेवक के संबंध में। जब विधानमंडल ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अंतर्गत लोक सेवकों को प्राप्त समान संरक्षण राज्य के संस्थानों या एजेंसियों के अधिकारियों को स्पष्ट रूप से शामिल करके प्रदान करने से इनकार कर दिया है, तो वे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अंतर्गत ऐसे संरक्षण का दावा नहीं कर सकते हैं और ऐसे अधिकारियों को शामिल करने के लिए धारा 197 की कोई भी उदार व्याख्या न्यायालय द्वारा कानून बनाने के समान होगी।

इन अपीलों में उठाए गए विधि संबंधी प्रश्न और पक्षों के संबंधित अधिवक्ताओं द्वारा प्रस्तुत दलीलों पर सावधानीपूर्वक विचार करने के बाद, यह प्रतीत होता है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अंतर्गत संरक्षण का औचित्य लोक सेवक द्वारा किए गए आधिकारिक कार्यों को अनावश्यक और परेशान करने वाले अभियोजन से बचाने की सार्वजनिक नीति में निहित है। और यह वांछनीय है कि सरकार पर ही लोक सेवक पर मुकदमा चलाने की उपयुक्तता का निर्धारण करने का अधिकार छोड़ दिया जाए। विधि आयोग की 41 वीं प्रतिवेदन में यह पाया गया कि पुरानी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अंतर्गत लोक सेवक को

दिया गया संरक्षण केवल उसके कार्यकाल के दौरान ही लागू होता था और सेवा छोड़ने के बाद यह संरक्षण लागू नहीं होता था। सेवाकाल के दौरान ही इस प्रकार की सुरक्षा अपर्याप्त मानी गई क्योंकि यदि किसी व्यक्ति को लोक सेवक द्वारा लोक कर्तव्यों के निर्वहन के संबंध में कोई शिकायत हो, तो वह लोक सेवक के पद छोड़ने के बाद भी उसके विरुद्ध शिकायत दर्ज करा सकता था। अतः, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 को इस प्रकार संशोधित किया गया कि लोक सेवक को उसके पद छोड़ने के बाद भी, उस कथित अपराध के संबंध में सुरक्षा प्रदान की जा सके जो उस अधिकारी के लोक पद पर रहते हुए किया गया था।

दंड प्रक्रिया संहिता में 'लोक सेवक' की परिभाषा नहीं दी गई है, लेकिन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (वाई) में यह प्रावधान है कि दंड प्रक्रिया संहिता में प्रयुक्त वे शब्द जो दंड प्रक्रिया संहिता में परिभाषित नहीं हैं, परन्तु भारतीय दंड संहिता में परिभाषित हैं, उनका वही अर्थ माना जाएगा जो भारतीय दंड संहिता में दिया गया है। भारतीय दंड संहिता की धारा 21 में 'लोक सेवक' की परिभाषा दी गई है, इसलिए 'लोक सेवक' शब्द का वही अर्थ होगा जो दंड प्रक्रिया संहिता में है। धारा 21 भा.दं.सं. के खंड 9 और 12 का संदर्भ लेना उचित होगा।

नौवां - प्रत्येक अधिकारी जिसका कर्तव्य सरकार की ओर से किसी संपत्ति को लेना, प्राप्त करना, रखना या उसका विस्तार करना है, या सरकार की ओर से कोई सर्वेक्षण, मूल्यांकन या अनुबंध करना है, या किसी राजस्व प्रक्रिया को निष्पादित करना है, या सरकार के वित्तीय हितों को प्रभावित करने वाले किसी मामले की जांच करना या उस पर प्रतिवेदन देना है, या सरकार के वित्तीय हितों से संबंधित किसी दस्तावेज को बनाना, प्रमाणित करना या रखना है, या सरकार के वित्तीय हितों की रक्षा के लिए किसी कानून के उल्लंघन को रोकना है।

बारहवाँ - प्रत्येक व्यक्ति-

(ए) जो सरकार की सेवा में हो या वेतनभोगी हो या सरकार द्वारा किसी सार्वजनिक कर्तव्य के निष्पादन हेतु शुल्क या आदत से पारिश्रमिक प्राप्त करता हो;

(बी) किसी स्थानीय प्राधिकरण, केंद्रीय, प्रांतीय या राज्य अधिनियम द्वारा स्थापित निगम या कंपनी अधिनियम, 1956 की 1956 91 की धारा 617 में परिभाषित सरकारी कंपनी की सेवा या वेतन में।

यद्यपि निगमित आवरण वाली संस्था या एजेंसी को सर्वप्रथम सरकार का तीसरा अंग माना जा सकता है और ऐसी संस्था उन कर्तव्यों और कार्यों का निर्वहन करती है जो राज्य द्वारा अपेक्षित हैं, जैसा कि *अजय हासिया* के मामले (उपरोक्त) में दर्शाया गया है, फिर भी ऐसी संस्था या एजेंसी एक स्वतंत्र कानूनी इकाई है। इसलिए, ऐसी संस्था को राज्य से अलग एक स्वतंत्र दर्जा प्राप्त होना चाहिए और इसे किसी भी उद्देश्य के लिए सरकारी विभाग नहीं माना जा सकता। इसलिए, भले ही ऐसी संस्था या एजेंसी का कोई अधिकारी कोई संपत्ति लेता है, प्राप्त करता है, रखता है या खर्च करता है या कोई अनुबंध निष्पादित करता है, भले ही अंततः यह माना जाए कि ऐसे कार्य राज्य के हित में किए गए हैं, फिर भी ऐसे कार्यों को नियम के अनुसार सरकार द्वारा अपने कर्मचारियों या सरकार द्वारा सशक्त किसी प्राधिकरण द्वारा की गई कार्रवाई नहीं माना जा सकता। यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के विभिन्न खंडों में दिए गए विवरणों में से किसी के अंतर्गत आने वाले व्यक्तियों का सरकार द्वारा नियुक्त होना आवश्यक नहीं है। यदि ऐसा व्यक्ति भारतीय दंड संहिता की धारा 21 के विभिन्न खंडों में दिए गए विवरणों में से किसी के अंतर्गत आता है, तो ऐसे व्यक्ति को लोक सेवक माना जाना चाहिए। धारा 21 का स्पष्टीकरण 1 यह दर्शाता है कि उपरोक्त विवरणों में से किसी के अंतर्गत आने वाले व्यक्ति लोक सेवक हैं, चाहे वे सरकार द्वारा नियुक्त हों या नहीं। स्पष्टीकरण 2 यह दर्शाता है कि जहां भी 'लोक सेवक' शब्द आता है, वहां इसका अर्थ प्रत्येक ऐसे व्यक्ति से समझा जाएगा जो वास्तव में लोक सेवक के पद पर है, चाहे उस पद को धारण करने के उसके अधिकार में कोई भी कानूनी खामी क्यों न हो। धारा 21 के खंड बारह के उपखंड (ख) में स्पष्ट रूप से केंद्रीय,

प्रांतीय या राज्य अधिनियम द्वारा स्थापित स्थानीय प्राधिकरण और निगम के अधिकारियों या कंपनी अधिनियम 1956 की धारा 617 में परिभाषित सरकारी स्वामित्व वाली कंपनी को लोक सेवक घोषित किया गया है। लेकिन धारा 197 दं.प्र.सं. के तहत संरक्षण किसी लोक सेवक को यह सुविधा तब तक उपलब्ध नहीं होगी जब तक कि उस धारा में उल्लिखित अन्य शर्तें पूरी न हो जाएं।

यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि निगमित संरचना की युक्ति या तंत्र के माध्यम से, कुछ सार्वजनिक उपक्रम वे कार्य कर रहे हैं जो राज्य द्वारा किए जाने चाहिए, फिर भी, प्रत्यक्ष रूप से, ऐसा साधन या एजेंसी एक कानूनी इकाई होने के नाते स्वतंत्र दर्जा रखती है और उनके द्वारा की गई कार्रवाई, चाहे वह राज्य के हित में कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, धारा 97 दं.प्र.सं. के अर्थ में सरकार द्वारा या उसकी ओर से की गई कार्रवाई नहीं मानी जा सकती।

मौलिक अधिकारों को लागू करने के उद्देश्य से, सार्वजनिक उपक्रम, जो गहन और व्यापक नियंत्रण के कारण अनुच्छेद 12 के अर्थ में राज्य माने जा सकते हैं, को सरकारी विभाग के समान माना गया है, लेकिन अपने सभी पहलुओं में, सार्वजनिक उपक्रम को सरकार द्वारा सीधे संचालित विभाग के बराबर नहीं माना गया है। इसी कारण से, हिंदुस्तान स्टील वर्क्स लिमिटेड में नियुक्त सर्जन को संविधान के अनुच्छेद 311 की प्रयोज्यता के उद्देश्य से सरकारी कर्मचारी के बराबर नहीं माना गया है। *प्रागा ट्रूल्स* के मामले (उपरोक्त) में, यद्यपि प्रागा ट्रूल्स को राज्य का एक साधन या एजेंसी माना गया था, इस न्यायालय ने यह संकेत दिया है कि प्रागा ट्रूल्स कॉर्पोरेशन का एक अलग कानूनी अस्तित्व था और एक न्यायिक इकाई होने के नाते, इसे सरकार द्वारा या सरकार के अधिकार के अधीन संचालित सरकारी संस्था नहीं माना जा सकता है। पटना उच्च न्यायालय ने *सिंधरी फर्टिलाइजर* मामले (उपरोक्त) में भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया था, जिसमें यह बताया गया था कि यद्यपि उक्त कंपनी का पूर्ण स्वामित्व भारत के राष्ट्रपति के पास था, जो निर्देश भी जारी कर सकते

थे, और निदेशकों की नियुक्ति भी भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जानी थी, फिर भी कानून की दृष्टि में कंपनी एक अलग कानूनी इकाई थी और उसका एक अलग कानूनी अस्तित्व था। पटना उच्च न्यायालय के इस निर्णय को इस न्यायालय ने भी स्वीकार किया है। *धोनोआ* मामले (उपरोक्त) में, एक भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी को, जब वह राज्य पर व्यापक नियंत्रण रखने वाले किसी सार्वजनिक उपक्रम में प्रतिनियुक्ति पर था, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत संरक्षण का हकदार सरकारी अधिकारी नहीं माना गया, यद्यपि प्रतिनियुक्ति पर रहते हुए भी वह सरकारी कर्मचारी बना रहा और सरकारी सेवा में उसका अधिकार बना रहा। *के. जयमोहन* मामले (उपरोक्त) में हिंदुस्तान स्टील वर्क्स लिमिटेड को भी वह संरक्षण नहीं दिया गया है जिसका वह सरकारी विभाग हकदार था।

सार्वजनिक उपक्रमों के महत्व को कम नहीं आंका जाना चाहिए। सरकार द्वारा ऐसे उपक्रमों या एजेंसियों के सुचारू संचालन के प्रति चिंता को समझा जा सकता है, लेकिन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के स्पष्ट शब्दों के अनुसार, सार्वजनिक उपक्रमों के अधिकारियों को दंड के माध्यम से संरक्षण प्राप्त नहीं है, क्योंकि एक न्यायिक इकाई और एक अलग कानूनी इकाई होने के नाते, ऐसे उपक्रम सरकारी विभागों से भिन्न स्थिति में होते हैं।

यहां यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि 1973 में, राज्य के साधन या एजेंसी की अवधारणा बिल्कुल स्पष्ट थी। ऐसे साधन या एजेंसी में राज्य का हित सर्वविदित था। फिर भी, विधायिका ने अपनी दूरदर्शिता से ऐसे साधन या सरकारी कंपनी के अधिकारियों को धारा 197 दं.प्र.सं. के तहत मंजूरी द्वारा संरक्षण प्रदान करने के लिए स्पष्ट रूप से शामिल करना आवश्यक नहीं समझा।

यह ध्यान देने योग्य है कि जब भी 'लोक सेवक' की परिभाषा में अन्य पदाधिकारियों को शामिल करने की आवश्यकता महसूस हुई, तो उन्हें विभिन्न विशेष और स्थानीय अधिनियमों के तहत 'लोक सेवक' घोषित किया गया है। यदि विधानमंडल का इरादा किसी

संस्था या एजेंसी के अधिकारियों को धारा 197 दं.प्र.सं. के संरक्षण में शामिल करने का होता, तो वह स्पष्ट रूप से ऐसा करता।

इसलिए, धारा 197 के प्रावधानों की उदारतापूर्वक व्याख्या करके ऐसे व्यक्तियों को धारा 197 के दायरे में लाना न्यायसंगत और उचित नहीं होगा। इस प्रकार की उदार व्याख्या किसी न्यायालय द्वारा किसी कानून की व्याख्या की अनुमत सीमा तक ही सीमित नहीं रहेगी, बल्कि न्यायालय द्वारा कानून बनाने के समान होगी।

अतः, हमारी राय में, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के तहत दंड द्वारा दी जाने वाली सुरक्षा सरकारी कंपनियों या सार्वजनिक उपक्रमों के अधिकारियों पर लागू नहीं होती, भले ही ऐसे सार्वजनिक उपक्रम संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थ में 'राज्य' हों, क्योंकि उन पर सरकार का व्यापक नियंत्रण है। अपीलों का निपटारा इसी अनुसार किया जाता है। हालांकि, यह स्पष्ट किया जाता है कि हमने इन अपीलों में उठाए गए अन्य विभिन्न आधारों पर विचार नहीं किया है, जिनमें सार्वजनिक उपक्रमों या सरकारी कंपनियों के संबंधित अधिकारियों के विरुद्ध शुरू की गई आपराधिक कार्यवाही की वैधता को चुनौती दी गई है। संबंधित अभियुक्तों को अन्य आधारों पर अपने विरुद्ध शुरू किए गए आपराधिक मामलों की वैधता को चुनौती देने का अधिकार होगा, यदि कानून में ऐसी चुनौती उपलब्ध हो। यदि इन अपीलों में ऐसे प्रश्न उठाए जाते हैं, तो उन्हें उचित प्राधिकारी द्वारा कानून के अनुसार विचार के लिए खुला रखा गया है।

अपील का निपटारा किया गया।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।